उपसंहार

उपन्यास साहित्य का समाज और संस्कृति से गहरा सम्बंध है। वह समाज और संस्कृति का मूल्यांकन और व्याख्या करता है। मूल्यांकन और व्याख्या के क्रम में उपन्यास साहित्य, समाज और संस्कृति के कटु यथार्थ से टकराता है।

यथार्थ की इसी टकराहट में उपन्यास, समाज और संस्कृति की गाथा बनते हैं। ऐसे ही उपन्यास महान होते हैं। ऐसे उपन्यास जीवन के शास्त्र मूल्यों की खोज करते हुए अपने युग के समस्त मानवीय संघर्ष एवं राग-द्वेष को अभिव्यक्ति करते हैं। कहना न होगा कि यही उपन्यास कालजगी उपन्यास कहलाते हैं। कोई भी रचना अपने समाज एवं संस्कृति से कटकर कालजगी नहीं बन सकती। शिवप्रसाद सिंह का उपन्यास साहित्य कालजगी है और इसीलिए कालजगी भी। उसमें आज के तमाम प्रासंगिक सवाल अपनी पूरी अर्थव्यता के साथ मौजूद हैं। यही कारण है कि उनका उपन्यास साहित्य एक सामाजिक-सांस्कृतिक उत्पाद के रूप में सामने आता है।

उसमें सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना के विविध रंग स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं।

शिवप्रसाद सिंह के उपन्यासों का फलक व्यापक है। इनका महत्वपूर्ण उपन्यास 'अलग-अलग बैठरणी' स्वातन्त्र्योत्सव भारतीय ग्रामीण समाज एवं संस्कृति का जीवन्त दस्तावेज है। प्रेमचंद और रणु के बाद साहित्य में भारतीय गाँव की पहचान लगभग खो सी गयी थी। शिवप्रसाद सिंह ने अपने इस उपन्यास में पुनः स्वातन्त्र्योत्सव भारतीय गाँव की पहचान को बड़े प्रभावशाली तंग से कायम किया है।

उपन्यास का 'करेता' गाँव समूह हिन्दुस्तान के गाँव का प्रतिनिधित्व करता है।

असली हिन्दुस्तान गाँवों में बसता है। गाँव ही देश की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक केंद्र प्रमुख धुरी है। इन गाँवों में भारत का किसान निवास करता है। किसान भारतीय अर्थ व्यवस्था की रीढ़ है। विद्वानों यह है कि स्वाधीनता के पश्चात् विकास के वेर सारे नारों के बावजूद ग्रामीण जीवन में कोई खास बदलाव नहीं आया। फलतः गाँव बद से बदतर होते चले गये। लोग सुख-सुखियों की
नरक की अलग-अलग वैतरणी प्रवाहित होने लगी जिसको निर्मित किया जमींदारों,
धर्म और समाज के ठेकेदारों तथा ब्रह्म सरकारी अफसरों ने। गाँव की प्रगतिशील
युवा पीढ़ी, जिसके अन्दर एक बेहतर समाज रचने का स्वप्न एवं उत्ताह था, इस
नरक की वैतरणी में डूबने-उतरने लगी। अन्ततः किसी तरह जान बच्ची तो वे वहाँ
से भाग खड़े हुए। शिवप्रसाद सिंह का ‘अलग-अलग वैतरणी’ उपन्यास व्यक्ति और
समाज की इस दर्द भरी टूटन को बड़े मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त करता है।

शिवप्रसाद सिंह ने ‘अलग-अलग वैतरणी’ उपन्यास में जहाँ ग्रामीण
जीवन की समस्त बीमारियों को नन स्वास्थ्य के रूप में उभारा है वहीं भावी जीवन
के प्रति आस्थावाद संकेत भी किया है। उनकी दृष्टि गाँवों के प्रति रोमांटिक नहीं है।
गाँवों से उनका सरोकार सत्यी भी नहीं है। वे गाँवों के स्वास्थ्य को पूरी तरह से
एकड़कर चलते हैं।

बेकारी और अभाव प्रस्तात के अलावा आधुनिक काल में अन्य ऐसे अनेक
आर्थिक कारण उभरकर आये हैं जिनके प्रभाव से गाँव टूट रहे हैं। गाँव के लोग
गाँव छोड़कर शहर भाग रहे हैं। ‘अलग-अलग वैतरणी’ का देवनाथ अनेक ठोकरों
के बाद करे में दुकान खोल लेता है। वह न केवल गाँव से ऊबता है बल्कि अपने
लोभी और पुराणपन्थी पिता से भी शुष्क नजर आता है। उसका मित्र शियान हारकर
गाजीपुर की तली कलेज में पढ़ने लगता है। दोनों के ग्राम-सुप्राक और सपने चूर-चूर
हो जाते हैं। अब इन्हें गाँव एक जीवा-जागता नरक लगता है। ऐसा नरक जहाँ भले
आदमी का रहना कठिन है।

आजादी के बाद भारतीय ग्रामीण समाज में प्राथमिक शिक्षा पर काफी
जोर दिया गया। नये-नये विद्यालय खोले गये तथा जनता में शिक्षा के प्रति रूचि
उत्पन्न करने की कोशिश की गयी। किन्तु बहुत जल्द ही ग्रामीण समाज में स्थापित
ये विद्यालय अपने लक्ष्य से भटक गये और इनकी स्थिति संतोषजनक नहीं रही।
इन विद्यालयों के अध्यापक एवं छात्र दोनों की स्थिति बहुत दयानी हो गयी।
उपन्यास में करौला ग्राम की पाठशाला एवं इसमें पढ़ने-पढ़ने वाले छात्रों और
अध्यापकों की यही स्थिति है।
समकालीन जीवन स्थितियों में परम्परागत और पुरातन मूल्यों के सामने अनेक प्रश्न चिह्न लगे हैं। इस मूल्य संक्रमण के पीछे आत्मीय सम्बन्धों में आया बदलाव सक्रिय है। यह बदलाव अध्यात्म जीवन को बुरी तरह झकझोर देता है। यहाँ पिता-पुत्र के आपसी रिश्ते झुठे पड़ते जा रहे हैं। उपन्यास में हरिया अपने पिता के प्रति कोई श्रद्धा भाव नहीं रखता। श्रद्धा चुकने का कारण कहीं आर्थिक अभाव है तो कहीं पुत्र की आत्म निर्भरता। शिक्षित युवक अपने पिता का आलोचक इसलिए बनता जा रहा है कि वे उन्हें इच्छानुसार विकास की दिशा तलाशने का अवसर नहीं देते।

पिता अपने पुत्र को आत्म निर्भर बनने के लिए नहीं पढ़ाता बल्कि शादी के अवसर पर अच्छा-खासा देखें भुना सके इसलिए पढ़ाता है।

घर-बाहर के घनिष्ठ आत्मीय सम्बन्धों में विगड़ आने का दुष्परिणाम यह हुआ कि ग्राम-जीवन में अत्याधुनिक सम्बन्धों की बाढ़ आ गयी। आत्मीयता रहित योगाकर्षण पर आधारित इन सम्बन्धों से स्पष्ट है कि गौरव की मानसिकता बदल रही है। इन सम्बन्धों के पीछे कहीं अभावजन्य विकास और पैसे वालों की ऐयाशी है, तो कहीं सहसा उत्पन्न परिस्थितियों का तकाजा। ‘अलग-अलग वैतरणी’ की नृत्य न चाहते खुसी उंची जाति वाले ठाकुर साहब की भोग्या बनने को विवश है। उपन्यासकार ने नैतिकता विरोधी और असाधारण योग-सम्बन्धों को प्रायः अशिक्षित वर्ग में ही घटते दिखाया है। गौरव-कस्बे की शिक्षित युवा पीढ़ी प्रेम करती है लेकिन यहाँ इस प्रकार के सम्बन्धों की निमित्त नहीं हुई है।

‘अलग-अलग वैतरणी’ के करतार गौरव में कुछ नये प्रकार के सम्बन्धों की स्थापना, नये मूल्य-मर्यादाओं के पनपने की ओर इंगित करती है। जगांग मिसिर का अपनी भावी से खुला योग सम्बन्ध पुरातन मूल्य चेतना को झटकने का प्रयास है। वे कुजात हो जाने की कोमत पर भी अपने करियंत्र अवैध सम्बन्ध को सन्तान के द्वारा पुक्ता करना चाहते हैं। इस प्रकार उपन्यासकार ने ग्रामांचल में नैतिक मूल्यों की पकड़ दीली होते जाने की बात कई बार की है।
इस युग में सर्वाधिक अवमूल्यन धर्म का हुआ है। 'अलग-अलग वैतरणी' में इसका विचार जिस रूप में हुआ है, उसे देखकर लगता है कि गौं में धर्म मात्र पाखंड और अंध-विश्वास बनकर रह गया है। उसका स्वरूप एकदम खोखला हो गया है। उसका सांस्कृतिक रस निकुल गया है। यहाँ जिस धर्म का चित्रण हुआ है, यह सनातन धर्म की विकृतियों के रूप में दृष्टिगोचर होता है। इन विकृतियों में संस्कृति का आहट मिलती है परन्तु उससे मानवीयता को समाधान नहीं मिलता। इस धार्मिक अवमूल्यन के मूल में गौं में जहाँ शिक्षा-दीक्षा का अभाव है, गरीबी का अखण्ड साम्राज्य है, जो धर्म विभिन्न प्रकार के शोषण का तन्त्र भी बन गया है।

'अलग-अलग वैतरणी' उपन्यास में छुआ-छूट और सामाजिक समानता का प्रश्न बराबर बना हुआ है। यहाँ वर्गगत भेद-भाव कम जातिगतभेद-भाव अधिक देखने को मिलता है। इस तरह की पिछड़ी जातियों जहाँ अपनी प्रतिष्ठा व सामाजिक समानता के लिए सवर्ण समाज से सीधे लड़ जाती हैं, वहीं अछूत वर्ग के लोग तिरस्कृत व अछूत ही बने रह जाते हैं। यह समाज का इतना लाचार वर्ग है कि सवर्णों के दमन का प्रतिरोध नहीं कर पाता।

'अलग-अलग वैतरणी' उपन्यास भारत विभाजन के बाद उभरी साम्राज्यक मानसिकता का भी चित्रण करता है। हिन्दुस्तान में रहने वाले अल्पसंख्यक मुसलम, बहुसंख्यक हिन्दुओं के अत्याचार से पीड़ित हैं। हिन्दू लोग मौके की नजाकत देख इनकी सम्पत्ति हड़पने से नहीं चूकते। अब समय-समय पर मुसलमों से राष्ट्र भक्त होने का प्रमाण मौगा जाता है। उपन्यास में खींची निमित जैसे पात्र है जिनके मन में हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं है। उनका हिन्दू समाज से गहरा सम्बन्ध है। हिन्दुओं के पर्व-त्योहारों में उनकी सक्रिय हिस्सेदारी है। उन्हें नहीं लगता कि वे त्योहारों के बीच में हैं। इसी के साथ-साथ शिवप्रसाद सिंह ने नयी मुसलम पीढ़ी का भी चित्रण किया है जो कहीं न कहीं पाकिस्तान से प्रेम करने लगी है जो उनका वलन नहीं है।
स्पष्ट है कि शिवप्रसाद सिंह के ‘अलग-अलग बैठती’ उपन्यास में सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना अपने यथार्थ बोध के साथ अभिव्यक्त हुई है। यहाँ भारत के वृहत रंग में बना सामाजिक, यानी ग्रामीण समाज में होने वाले नित–नवीन परिवर्तनों, जीवन संघर्ष एवं आजादी की कशमकश को बड़े बेबाक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

शिवप्रसाद सिंह ने ‘गली आगे मुड़ती है’ उपन्यास में प्राचीन नगर काशी की बदलती सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना को बांधने का सफल प्रयास किया है। सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन के क्रम में छात्र–आन्दोलन, युवा–आक्रोश,पण्डित–पुजारियों का ब्रह्म चरित्र उभरकर सामने आया है। यहाँ मिन्न–मिन्न संस्कृतियों की टकराहट है किन्तु काशी की संस्कृति कहीं से धूमिल नहीं हुई है बल्कि और निखरकर सामने आयी है। काशी का सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन, युवा संघर्ष से जुड़कर और जीवन हो उठा है। समाज का हर युवा जीवन के विभिन्न मोड़ों पर संघर्ष कर रहा है। कहीं पुरानी पीठ हो, कहीं गुटबंदी से, कहीं भ्रष्टाचार से, तो कहीं स्वयं से। इस प्रकार उपन्यास में काशी का सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन युवा–आक्रोश की पृष्ठभूमि में व्यक्त हुआ है।

काशी का सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन बहुआयामी है। यहाँ देश के मिन्न–मिन्न कोनों से तरह–तरह की लालसाओं से युक्त लोग आते हैं। यही कारण है कि देश के सभी हिस्सों और समाजों के लोग आपस में मिलकर काशी की एक नयी संस्कृति का निर्माण करते हैं। काशी की जनसंख्या में बंगालियों, गुजरातियों और बोजपुरी भाषियों की संख्या अधिक है। उपन्यास में इन तीनों संस्कृतियों का विस्तार से वर्णन हुआ है। एक तफ जहाँ बंगाली और गुजराती संस्कृति को व्यक्त करते हैं, वह ‘दुर्गा–पूजा’ और ‘गरबा’ का उल्लेख हुआ है। यही दृश्य और बोजपुरी संस्कृति अनेक पवनों और त्योहारों आदि के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। इस अवसर पर जमनादास राधा–कृष्ण की मूर्ति को माला पहनाकर अगरबत्ती जलाता है। शरद के नवरात्र में रामलीला होती है और रावण की प्रतिमा को बाणों से छेदकर जलाया।
दिया जाता है। दीवाली के अवसर पर पूरे शहर की लिपाई--पुताई होती है। खाना
बनने के अवसर पर ‘राखी’ बाँधने का प्रचलन है।

उपन्यास में दो संस्कृतियों समानांतर रूप से चलती हैं। एक परम्परागत
संस्कृति है तो दूसरी आधुनिक। ऐतिहासिक नगरी काशी भी अपने को पास्चात्य
संस्कृति की नकल से बचा नहीं पाती। होटल फिलाडेल्फिया में चल रहा समूचा
कार्य–व्यापार एवं कालगत्त दिशा संस्कृति इसी आधुनिक संस्कृति की देन है।
आधुनिक बनने के चक्कर में लोगों का उदय और उच्चत्व होते जाना काशी की
परम्परागत संस्कृति के विरूद्ध है। इसी काशी में अपने पति द्वारा उपलब्ध संगमन
की माँ जैसी रिहायों जहाँ इज्जत के साथ संयमित जीवन गुजारती हैं वहीं जवानी
की दहलिज पर पहुँची मनचली लड़कियों कुछ ही रूपयों के लिए अपने शरीर का
सौदा कर लेती हैं।

‘गली आगे मुड़ती है’ उपन्यास में न केवल शिक्षा जगत बल्कि कला,
राजनीति, भाषा और जीवन की लगभग हर समस्या को लेकर छात्र आंदोलन उठ
खड़ा होता है। यद्यपि एकता एवं विचारधारा के अभाव में यह आंदोलन दिशाहीन
हो जाता है पर नहीं कहा जा सकता कि आंदोलन की शक्ति समाप्त हो गयी है।
युवा–आक्रोश किस प्रकार क्रमशः बढ़ता जा रहा है और आंदोलन की परिधि में किन
प्रकार से अनेकानेक अन्य चीजें आती जा रही हैं, इसे उपन्यासकार ने सफलता पूर्वक
अभिव्यक्त किया है। यह भी सच है कि युवा आक्रोश का खोललापन और
मूल्यहीनता उसे असफल बना देता है पर युवा छात्र सामाजिक शर्तना व सरोकारों
से जुड़ना भी चाहते हैं। यह जरूर है कि सामाजिक विसंगतियों के कारण वे जुड़
नहीं पाते और अन्ततः दूर जाते हैं।

‘गली आगे मुड़ती है’ उपन्यास में काशी की सामाजिक–सांस्कृतिक
चेतना आधुनिक सन्दर्भों में व्यक्त हुई है। यहाँ काशी की समस्याओं आज की
समस्याओं हैं। काशी का सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन शाख्त है और सनातन भी।
यहाँ के समाज और संस्कृति में जो बदलाव देखने को मिलते हैं वे आधुनिकता के
नाम पर पश्चिमी समाज की कोरी नकल ही हैं। इस आयातित कृतिम संस्कृति को काशी की मूल संस्कृति पचा नहीं पाती।

'शैलूष' उपन्यास की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना ग्रामीण जीवन पर आधारित है। खाना बदोश नटों के कबीलेलाई जीवन एवं बांजारा संस्कृति के माध्यम से इस चेतना का यथार्थ रूप अभियक्त हुआ है। याग्यावर जीवन जीने वाले ये नट कबीले तमाम बाह्य शक्तियों के दबाव, अत्याचार, अन्याय एवं छल-कपट के विरुद्ध लड़ते हैं, संघर्ष करते हैं।

नट कबीले वस्तुतः ग्रामीण संस्कृति के ही एक अंग हैं। भूमिहीन होते हुए भी ये ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था से चुजे रहते हैं। इसका जीवन इतना कठिनय है कि कभी-कभी इन्हें कई दिनों तक भूखा रहना पड़ता है। ये लोग भूखे-प्यासे रहकर, आल्हा गाकर, भीख माँग कर, जंगलों से पते उद्गार दोनों और पतल बनाकर, बाजारों में घास बेचकर, खेत-कूड़, रसी पर चलने जैसा करतब दिखाकर, अपना पेट पालते हैं। नटों के भीख भी माँग लेती हैं। ये लोग नटों को चुराकर बेचने का धन्य भी करते हैं। नट पैसे के लिए कभी बच्चों की हत्या नहीं करते। किन्तु उपन्यास में नटों का करीमन कबीला ऐसा करता है।

इसीलिए इस नीच कर्म की भर्तना उसकी बेटी स्वयं करती है। नटों की और से हमल गिराने और बचाने तथा नामढ़गी और बाँझपन मिटाने की दबावियों बेचती हैं। जेठों के अर्थी जैसा नशीला पदार्थ बेचने में पकड़ी जाती है और पुलिस के साथ हमविस्तर होने के बाद छोड़ दी जाती है। यहाँ नौजवान और जेठों जैसे लोग मिलकर सुगर और स्मैक का धन्य करते हैं। ऐसे कायों में औरतों की भागीदारी कबीलाई समाज के नये आयाम की ओर संकेत करती है।

'शैलूष' उपन्यास में भूमिहीन नट कबीला पट्टे की जमीन पर कान्विज होने के लिए प्रयासरत है। इस प्रयास क्रम में इन्हें जमीदार वर्ग से संघर्ष करना पड़ता है। सावित्री की प्रेरणा से वे रेवतीपुर की पहरी जमीन पर अधिकार जमाकर
खेती करने की कोशिश करते हैं। जुगी सिंह इसे खेती करना सिखाते हैं। उपन्यास में सरकार द्वारा भूगोलिश्नों में भूगोल-वितरण की समस्या का प्रमुख रूप से उठाया गया है।

'शैलूष' में नत संस्कृति का महत्वपूर्ण रूप नहीं है। यहीं कारण है कि यहाँ छोटे-बड़े का कोई लिहाज् नहीं है। बेटियाँ भी पिता से हरामखोर और साले के सम्बोधन से बातें करती हैं। पिता द्वारा भी अपनी बेटी पर ऐसे ही आरोप लगाये जाते हैं जो बेटी और बाप के बीच की सारी मार्गदर्शन को तोड़कर रख देता है।

उपन्यास में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध काफी हद तक उम्मीद है। लोग विवाह से लेकर शारीरिक सम्बन्ध तक के मामले में स्वतंत्र हैं। सावित्री ब्राह्मण जैसे उच्च जाति एवं परिवार की होते हुए भी जुड़वान जैसे नट से प्रेम करने लगती है और घर, परिवार, समाज की सारी मर्यादाओं को तोड़कर नहीं कबीले को स्वीकार कर लेती है। प्रेम की यह संस्कृति कबीलाई समाज के लिए क्रांति का एक नया द्वारा खोलती है। यहाँ प्रेम विवाह भी होते हैं तथा विवाह पूर्व शारीरिक सम्बन्ध भी। धन्ये में सफल होने के लिए नट लड़कियाँ अपना शरीर तक बेच देती हैं।

'शैलूष' उपन्यास में जीवन संघर्ष के बावजूद कबीलाई संस्कृति की परस्पराय, मान्यताएँ कायम हैं। नटों के इस जीवन संघर्ष में इसकी संस्कृति, जीवन-इतिहास एवं विश्वास बड़े यथार्थ रूप में उभरता है। सामाजिक-सांस्कृतिक विकास को खोजते हुए उपन्यासकार ने इनका सम्बन्ध राजपूतों से भी जोड़ा है तथा कबीलाई जीवन की अनेक समस्याओं को उठाकर, उन पर गहन विचार-विमर्श किया है।

शिवप्रसाद सिंह की रचना 'मंजुशिमा' अपने अंधे-बुरे रूपों में आज के समाज को ही चित्रित करती है। यहाँ एक शिक्षक की बेबसी उस समय उम्मकर सामने आती है जब वह अर्थभाव के चलते अपनी बेटी का ठीक से इलाज् नहीं कर पाता। रचनाकार जो बेटी का पिता भी है, सामाजिक व आर्थिक दोनों मोर्चों पर संघर्ष करता है। वह बेटी को मृत्यु के पाश से बचाने के लिए अपना सब कुछ लुटा
देता है। सवाल है बेटी के लिए इतना संघर्ष ? वस्तू: यह वही समाज है जहाँ लड़कियों जन्म से पूर्व ही मार दी जाती हैं या जन्म के बाद। पुरुष वर्णवस्त्र के समाज में इनकी कोई अहमियत नहीं होती। दुनियाँ के इसी बड़े स्पेस में नारी को थोड़ी भी जगह सुरक्षित हासिल नहीं हो पाती। यही समाज उसके लिए सभी चीजों के नये और अलग अर्थ गढ़ता है। लाखार और असहाय होने के कारण वे उसको बिना किसी प्रतिरोध के स्वीकार भी कर लेती हैं।

‘मंजुशिमा’ में अच्छे–बुरे लोगों की सही पहचान की गयी है। संकट के समय में ही समाज का असली चेहरा दिखाई पड़ता है। रोज साथ उठने–बैठने वाले स्वाभी लोग संकट के समय में साथ छोड़ देते हैं। यहाँ लेखक वर्ग से भी रचनाकार को शिकायत कह कि वह संकट के समय में कोई खास सहयोग नहीं कर पाता।

‘मंजुशिमा’ में मेडिकल से जुड़ी ब्रह्म व्यवस्था भी प्रकाश में आयी है। इस व्यवस्था ने एक ऐसा वर्ग पैदा किया है जो केवल रूपरेखा में विवाह करता है। उसे मरीजों से कोई सहानुभूति नहीं होती। जिन डॉक्टरों को लोग भगवान से बढ़कर मानते हैं वही डॉक्टर गरीब रोगियों को खून चूसने के बाद ही छोड़ते हैं। ये डॉक्टर न केवल रोगियों के इलाज में लापरवाही करते हैं बल्कि रोगी को तड़पता–कसाहटा छोड़कर रात भर नर्सों के साथ मीज–मस्ती करते हैं।

दक्षिण भारत के एक प्रमुख अस्पताल में विधान को धता बताकर किस तरह से किडनी के खरीद–फरीद का व्यापार चल रहा है, इसे उपन्यासकार ने भली–भांति चित्रित किया है। इसी तरह से दक्षिण भारत में हिन्दी विशेष का स्वर कितना तीव्र है इसका आभास हृदाप कैश करने में आयी परेशानी के प्रसंग से हो जाता है।

‘मंजुशिमा’ उपन्यास पर तमाम तरह के आश्रय लगे थे। कुछ आलोचकों ने इसे सहानुभूति और दया अर्जित करने का प्रयास कहा है तो कुछ आलोचकों ने इसे उपन्यासकार के दम्भ की अभिव्यक्ति माना है। इन सबके बावजूद इस उपन्यास में शिवप्रसाद सिंह ने संकट से जूझते हुए समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार को सफलता
पूर्वक रेखांकित किया है। यहाँ समाज अपने अब्बे-बुरे दोनों रूपों में चित्रित है।

रचना की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का यही मूल आधार भी है।

शिवप्रसाद सिंह का ‘औरत’ उपन्यास गाँव की नारी की पीड़ा और उसके मुक्ति के संघर्ष को प्रस्तुत करता है। उपन्यास में पुरुष वर्चस्व का यह सामान्य समाज वर्णित है जहां नारी मुक्ति के रास्ते बहुत दूर तक नहीं दिखाई पड़ते। इस समाज में सर्वन स्त्रियाँ जहां पुरुष की अमानुषिक पीड़ा की शिकार हैं वहीं दलित स्त्री के लिए शोषण का स्तर कई गुना बढ़ जाता है। दलित स्त्रियाँ तो दलितों में भी दलित हैं।

उपन्यास में दलित लड़की सोनवां गाँव के ही सफेदपोश जमींदार की काम वासना की शिकार हो जाती है और गर्म ठहरने की स्थिति में सामाजिक मर्यादा के बदले में आत्महत्या कर लेती है। विडम्बना यह है कि उसका सर्वन स्रीमी शिष्य उसकी प्राण रखा नहीं कर पाता। वह चाहता तो उससे विवाह कर, उसे सामाजिक सम्मान देकर, उसे आत्महत्या करने से बचा सकता था किन्तु वह उसे सही समय पर अपना नहीं पता। वह अपनी प्रेमिका की बहन एवं भाई का बिना व्यापार के ही जीजा बना रहता है किन्तु वह अपनी दलित प्रेमिका के प्रति कोई कुर्बानी नहीं दे पाता। एक सर्वन स्रीमी और दलित प्रेमिका के बीच, उठा यह एक ऐसा सवाल है जिसका उत्तर आज भी हमारे समाज के घाट नहीं है। हमारे समाज की विडम्बना यही है कि यदि प्रेमिका भी सर्वन होती तो शायद सर्वन स्रीमी उसके प्रति कुछ सहानुभूति दिखाता। किन्तु यह भी सच है कि यदि प्रेमिका सर्वन होती तो शायद उसके साथ ऐसी घटना ही नहीं घटती। कहना न होगा कि आज भी सर्वन समाज के लिए दलित स्त्री से प्रेम करना एक बात है और उसे अपनाकर पत्नी के रूप में स्वीकार करना दूसरी। समाज में जातिगत मिह इस कदर व्याप्त है कि बड़े-बड़े नारीवादी एवं और ओर से के अवकाश के पक्षधर भी इस प्रश्न पर प्रयास मौन हो जाता ही अच्छा समझते हैं। सच्चाई यही है कि हम दलित स्त्रियों से प्रेम का नाटक कर सकते हैं, उन्हें बहाल-फुसलाकर अपनी काम वासना की तृप्ति कर सकते हैं किन्तु
उन्हें अपनाकर अपनी पत्नी के रूप में अपने घर में नहीं बिठा सकते क्योंकि वहाँ हमारी सामाजिक मर्यादा एवं जातिगत श्रेष्ठता को चोट पहुँचती है।

उपन्यास में सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना ग्रामीण जीवन के गहरे यथार्थ से प्रभावित है। यहाँ पुरुष वर्तमान बाले सामाजिक समाज में भारतीय नारी की पीड़ा एवं बेवसी व्यक्त हुई है। स्त्रियों सामाजिक उत्पीड़न की शिकार हैं। इनमें परिस्थिति जन्म गहरा दर्द एवं वेदना है पर वे अपनी परिस्थितियों से संघर्ष नहीं कर पातीं। यहाँ दलित नारी की स्थिति और बदतर हैं। वह दलितों में भी दलित है। ये इतनी असहाय एवं गरीब हैं कि किसी अन्याय और जुल्म के बिरुद्ध संघर्ष भी नहीं कर पातीं।

शिवप्रसाद सिंह के इतिहास की पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यासों में सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना, अतीत के माध्यम से वर्तमान के समसामयिक सन्दर्भों में प्रतिबिंबित हुई है। यहाँ इतिहास के ध्रुव सत्यों के साथ जीवन के चल सत्यों का उद्धारण है। इन उपन्यासों में इतिहास स्वतंत्र वस्तु नहीं है बल्कि जीवन की अभिव्यक्ति का साधन मात्र है।

‘नीला चौंद’ उपन्यास में ग्रामीण सदी की काशी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के माध्यम से देख सारे तत्कालीन अध–विश्वासों, प्रथाओं–कूटनीतियों, रूढ़ियों की जकड़बन्दी, बजरानी तन्त्र साधना के द्वारा फैली यौन विकृतियों एवं उसमें दी जाने वाली नर बलि तथा उस युग की देवदासियों की समस्याओं का उल्लेख हुआ है। इन सामाजिक–सांस्कृतिक समस्याओं का तत्कालीन काशी से ही नहीं बल्कि आज के जीवन से भी गहरा सरोकार है।

मध्यकालीन काशी पर केंद्रित इस उपन्यास में शिवप्रसाद सिंह ने समाज से तिरस्कृत और अपमानित वेश्या तथा अछूतों की सामाजिक–सांस्कृतिक समस्याओं को उठाया है। यहाँ भरत डोम जैसे लोग भी हैं जो अपनी सामाजिक स्थिति से सन्तुष्ट नहीं हैं। वे समाज में अपेक्षाकृत समान दर्जा बनाते हैं ताकि समान के साथ जिन्दगी जी सकें। ‘नीला चौंद’ की मध्ययुगीन काशी में ऐसे विश्रामालय हैं जो वेश्यालय का कार्य करते हैं। इनके अन्दर देह व्यापार चलता है। धार्मिक
वातावरण काफी भ्रष्ट हो चुका है। बैठाओं के साधना स्थल तथा शिवालय कामाचार के अँड़े में बने हुए हैं। यहाँ भोग-विलास तथा काम वास्तव का वातावरण व्याप्त है।
काशी के इस महानगर से पंडे-पुरोहित भी बच नहीं सके हैं।

राष्ट्रीय एकता की समस्या 'नीला चाँद' की एक प्रमुख समस्या है। यहाँ अलग-अलग राज्य की गंगा की जा रही है। सभी राजवंश आपस में मिलकर कोई अभिभावक संघ का निर्गमण भी नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति में राष्ट्र की रक्षा का सवाल भी उठता है। निष्ठुर रूप से कोई भी, राजा-प्रजा, उपधक तथा विभिन्न क्षेत्रों, धर्म एवं जातियों में बंटा देश दिशेशी आक्रान्ताओं से अपनी रक्षा नहीं कर सकता।
कहना न होगा कि अपनी मान्यमूर्ति की रक्षा एवं दुर्दान्त शान्ति के दमन के लिए काशी के हाशिए के लोग संघर्ष में भाग लेते हैं।

स्पष्ट है 'नीला चाँद' की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना आधुनिक युग-बोध के साथ उपस्थित है। काशी का सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन और इसके अन्तर्विश्वास इस युग बोध के साथ बड़े सार्थक रूप में प्रकाशित हुए हैं।

शिवप्रसाद सिंह ने 'होनोज दिल्ली दूर अस्त' के दोनों खण्डों 'कुहरे में युद्ध' और 'दिल्ली दूर है' में इतिहासिक इंद्रावत का चित्रण नयी ऐतिहासिक गंगा के अनुसार अतिशय के ध्वस्तव्यों में पुस्तक किया है। यहाँ लोग इस इंद्रावत से जुड़ा रहे हैं। आज इस खतरनाक स्थिति का कठुआ अनुमोद समूचा विश्व कर रहा है।
'कुहरे में युद्ध' उपन्यास की कथा भूमि भारत में मुसलमानों के आगमन के समय की है। फिर भी उपन्यासकार बराबर आज के परिवेश से ही टकराता है। यहाँ अलग और वर्तमान पूरी प्रारंभिकता के साथ जुडे हैं। उपन्यास में युगीन समाज की राजनीति, धर्म निरपेक्षता तथा राष्ट्र की रक्षा जैसे महत्वपूर्ण सवाल पूरी अर्थवत्ता के साथ प्रकाश में आये हैं। यहाँ हिन्दू-मुस्लम, समाज व संस्कृति की टकराहट में दोनों समाज की कमियाँ और अच्छाइयाँ भी उजागर हुई हैं।

उपन्यास में स्पष्ट है कि विपरित हिन्दू शक्तियों, नृत्य तत्त्वरस्ती के आक्रमण को विफल नहीं कर पाती और ई० 1000 तक महामूर्त इन शक्तियों को छिन्न-पिन्न कर देता है। फिर यह लड़ाई सुखा के लिए लड़ी जाने लगती है।
इन परिस्थितियों में भारत की अस्मिता का प्रतीक तथा हिन्दुस्तान की संस्कृति की ध्वजा, 'कालंजर' की खाल का सवाल उठता है। कालंजर का गुलाम होना, सारे भारत वर्ष का गुलाम होना है। उपन्यास का नायक आनन्द वाशेक युद्ध की नयी रणनीति अपनाकर कालंजर की खाल करता है। वह युद्ध में सरीसृप को चारों ओर से घेरने वाली पहाड़ियों के भीतर विषेषे तीर मारने वाले सौर, खंभार, बहेरिया और डुमार जनजाति के लोगों का पूरा सहयोग हासिल करता है। वह बिना किसी भेदभाव के इनसे प्रेम करता है। ये आदिवासी लोग भी अपने राजकुमार और अपनी मातृभूमि से बेहद प्रेम करते हैं। ये लोग अपनी मातृभूमि की खाल के लिए अपना सब कुछ न्योछावार करने के लिए हमेशा उदयत रहते हैं। ये अपने तीर में ऐसा विषेश रोगन लगाते हैं जिससे लगने से शत्रु पागल होकर मीत की गोद में सो जाते हैं।

इस प्रकार आनन्द वाशेक, तुरुष्कों के विरुद्ध संघर्ष में तत्कालीन सामाजिक संरचना के अंग, उच्च-नीच सभी जातियों के लोगों को समान रूप से साथ लेकर चलता है। वह यह भी जानता है कि आदिवासियों के सहयोग के बिना तयार की विशाल सेना को मुद्दी भर जुझीती की सेना के बल पर परास्त नहीं किया जा सकता। जंगली एवं पर्वतीय इलाकों में जंगली आदिवासी जातियों ही दुर्गान्नों से सही ढंग से लड़ सकते हैं। यही कारण है कि वह इस संघर्ष में निम्न जाति के युद्ध-युवतियों का बिना किसी भेदभाव के सहयोग प्राप्त करता है।

आनन्द वाशेक हिन्दू-मुसलम संघर्ष में कभी भी बर्बरता का उत्तर बर्बरता से नहीं देता। वह हमेशा मानवता के हित में अपने संघर्ष को जारी रखता है। वह मानता है कि मनुष्य के बीच घृणा के कार्य को राज-महाराजा, सुल्तान-अमीर ही बताना, मजहब, अल्लाय या फिर मातृभूमि, धर्म, ईश्वर को एक दूसरे का शत्रु बताकर सम्पादित करते हैं।

उपन्यास में बाहरी आक्रान्ताओं की बर्बरता एवं गृहरता तथा हिन्दुओं की आपसी कमजोरी का भी चित्रण हुआ है। यहाँ उपन्यासकार धर्म परिवर्तन की खतरनाक स्थिति की ओर संकेत करता है। इस धर्म परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में अत्यस्थायी-वहुसंख्यक का सवाल भी उठता है।
सांस्कृतिक वर्चस्व, प्रतिरोध एवं सहस्थिति किसी समाज की विशेषता होती है। सामाजिक समीकरण तब गड़बड़ जाते हैं जब इसमें असन्तुलन आ जाता है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भारत में इस्लाम के आगमन से हिन्दू सांस्कृति को गहरा धर्मका लगता है। हिन्दू राजाओं की शासननाक पराजय के बाद हिन्दू धर्म से जुड़ा सारा तन्त्र बिखर जाता है। ये ही स्थितियाँ हिन्दुओं के जरिए दो बनाए वनसे में सहायक सिद्ध होती हैं। ये वे भारतीय हैं जो भूखमस र्रे घरने के लिए मुस्लिम सेना में भर्ती होकर हिन्दू जनता को लूटते हैं और लूट का एक चीवाई माल खेलीफा को मेंत करते हैं। वस्तुतः ये ऐसी खतरनाक स्थितियाँ हैं जिनमें हिन्दू शासक अपने को असहाय पाते हैं। इस प्रकार उपन्यासकार ने हिन्दू समाज के विघटन एवं उसके खतरनाक परिस्थितियों की ओर पर्याप्त इशारा किया है।

‘कुहरे में युद्ध’ उपन्यास में राष्ट्र की रक्षा का साबित प्रमुख रूप से उभरता है। यहाँ कालजंग का शासक—वैलोक बल्लेबाय एवं उनका सेनापति आनंद वारेक अपनी बीमारी एवं दूरदर्शिता से तुर्क सेनापति इस्लामिज के सिपहसालार ख्वालियर के मुक्तामलक गुसरत तयारी को कढ़ी चुमाती देते हैं। आनंद वारेक को इस कड़े संघर्ष में अपनी प्रेमिका देविका को भी खोना पड़ता है। देविका के अपहरण के पश्चात तयारी की बुद्धिमत्ता बेगम बना दी जाती है। यह तयारी के बच्चे की मां बनती है किन्तु उसका प्रेम वारेक के प्रति कम नहीं होता। अपने देखरेख से बाबुजुब वारेक अपनी प्रेमिका को तयारी के चंगुल से मुक्त नहीं करा पाता।

दिल्ली दूर है में उपन्यास का नायक आनंद वारेक हिन्दू रूढ़िवादिता को ठोकर ठहराते हुए साम्प्रदायिकता की समस्या से लड़ता है। वह इस्लामिज इंज़ावात से जुड़ते हुए भी हिन्दू—मुस्लिम दोनों सम्प्रदायों के बीच प्रेम एवं सद्भाव के द्वारा एक मानवीय सांस्कृति रखने की कोशिश करता है। उसकी इस कोशिश में बाबा फरीद, सीदी मौला, रावल पीर, संत जहांनेश्वर जैसे साधू—फकीर पूरा सहयोग प्रदान करते हैं।

आनंद वारेक कभी भी तुर्क बल्लत का उत्तर बल्लत से नहीं देता। वह इज़रायलियों द्वारा तयारी की बेटी शकीला के अपहरण को अनुचित मानता है तथा
यादव शालिग्राम एवं मल्ला के चंगुल से उसे मुक्त कराकर उसके पिता तयासी के पास सुरक्षित भेज देता है। जबकि वही तयासी उसकी प्रेमिका का अपहरण करता है।

वह हरियाणिका के उन यादव युवाओं को चुनौती भी देता है जो बदले की भावना से मुस्लिम लोगों पर अत्याचार करते हैं। यहाँ उपन्यासकार शत्रु के प्रति भी एक मानवीय दृष्टिकोण का संकेत करता है।

आनन्द वाशे के अपनी प्रेमिका देविका को जहाँ भूल नहीं पाता, वहीं दीपिका के साथ गन्धर्व विवाह भी करता है। वह हिन्दू-मुस्लिम का भेद किये बिना हाशिम की बहन नजामा के साथ अपने प्यार को स्वीकार करता है और अपने अन्तिम दिनों को उसी के घर में गुजारता है।

आनन्द वाशे, हिन्दूखान या सफीउल्लाह बासा बनकर तथा रजिया का सहयोग करके हिन्दुओं के लिए कुछ सुविधायें हासिल करना चाहता है। वह रजिया के विश्वास को दबाना चाहता है। उसे लगता है कि रजिया के हिन्द के स्वास्थ्य पर बैठने से हिन्दू-मुस्लिम अन्यों के बीच संघर्ष समाप्त हो सकता है। उसे रजिया आज की हिन्दुस्तानी औरत की पीढ़ा का अहसास लगता है। अन्ततः वह अपने प्रयोगों में बहुत सफल नहीं हो पाता और रजिया से दूर हट जाता है।

उपन्यास में रावलपीर के माध्यम से चित्रीड़ की रावल परंपरा तथा नाथपंथी साधना का महत्व भी उभरता है। नाथपंथी वे जोगी हैं जिनका इस दुनिया में कोई नहीं है। वे खानाबदोश की तरह पूरा मुल्क अपने पैरों से नापते रहते हैं। यहाँ रावलपीर दयानाथ मात्र योगी नहीं हैं बल्कि वह एक ऐसे इस्लाम हैं जो सारी-दुनिया को शिव और शक्ति की लीला समझते हैं। वह एक तरफ मानवता का उपदेश देते हैं तो दूसरी तरफ आयामों के विरुद्ध संघर्ष की सलाह भी। कहना न होगा कि हिन्दू–मुस्लिम धम्मों के आम लोग आपस में लड़ते हैं। वे यह नहीं जानते कि बाबा फरीद और रावल पीर एक दूसरे के पूरक हैं। इनमें से किसी भी एक को नकारा नहीं जा सकता।

उपन्यास में संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, गोक्षुनाथ, सीदी मौला तथा अमीर खुसरो सामाजिक सद्भाव कायम करने की कोशिश करते हैं। सीदी मौला
जनसाधारण की पीड़ा को अपनी पीड़ा समझते हैं। इसीलिए वह लोगों की भूख से
रक्त के लिए अन्य जुटाते हैं। गोरखनाथ न तो मंदिर हैं, न मस्जिद, न आश्रम, न
खानकाह। वह इन्सान को ख़ुशी देने का एक माध्यम हैं। जिससे लोगों को एक नयी
जिन्दगी मिलती है। अमीर खुसरो मजहबी सियासत का समर्थक होते हुए भी भारत
से बेहद प्रेम करता है।

स्पष्ट है कि ‘दिल्ली दूर है’ उपन्यास में सामाजिकता एवं राष्ट्र की रक्त
का सबूत युगीन सन्दर्भों में पूरी प्रारंभिकता के साथ उठता है। यहाँ विघटित
राष्ट्रीय शक्तियों राष्ट्र की रक्त में सबसे बड़ी बाधा है। उपन्यास का नायक आनन्द
वाशेक इन विघटित राष्ट्रीय शक्तियों को एक जुटकर संघर्ष करने की कोशिश
करता है किन्तु सफल नहीं हो पाता। अन्ततः वह हिन्दू-मुस्लिम दोनों संस्कृतियों के
बीच सामजिक स्थापित करने का प्रयास करता है। उसे लगता है कि राष्ट्र की रक्त,
समाज के हाशिए के लोगों को राष्ट्र की मुख्य धारा से जोड़कर एवं हिन्दू-मुस्लिम
दोनों समाज के बीच आपसी सदस्यता एवं प्रेम कायम करके ही यह जा सकती है।

वैश्वानर उपन्यास की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना, प्राचीन काशी के
समाज और संस्कृति से प्रभावित है। वैद, पुराण, उपलिपित एवं बौद्ध कथाएँ प्राचीन
काशी के मूल दस्तावेज हैं। इन्हीं के आधार पर वैदिक युगीन काशी के समाज और
संस्कृति का जीवन दर्शन उभरकर सामने आता है।

उपन्यास में काशी की अपरम्परा, मान्यताएँ, आर्य-अनार्य संस्कृति का
हृदय, अत्याचार-अनाचार सब कुछ उजागर होता है। काशी नगर के तक्ष्य रोग से
ग्रस्त हो जाने पर भिषक, धन्यन्तरी बिना किसी भेदभाव के किरात एवं गुप्ताजानों
की सेवा करते हैं। वे आदिवासी लोगों को इस महामारी से बचाने के लिए अपना सब
कुछ उत्सर्ग कर देते हैं।

उपन्यास में आर्य संस्कृति के विस्तार के साथ-साथ उसकी कमियाँ भी
उजागर होती हैं। ऋषियों के राध तभी कलकित होते हैं। विश्व के जैसे ऋषि भी
सत्य की अनदेखी करते हैं। वह एक ऐसा विश्व समाज रचने की कोशिश करते हैं।
जहाँ दास एवं स्वामी दो वर्गों का निर्माण होना है। वशिष्ठ मुनि की इस कदमता को समाज स्त्रीकार नहीं करता। वशिष्ठ मुनि और विश्वामित्र के बीच उभरा वैधानिक मतभेद इसी का परिणाम है।

प्राचीन काशी की आयर संस्कृति में युवक—युवती के विवाह के लिए कोई पूर्व निर्मित विधान नहीं है। सभी अपना जीवन साथी चुनने के लिए स्वतंत्र हैं। पुरुष के बिना नारी, नारी के बिना पुरुष अधूरा है। प्रकृति के इस सुन्दर और अनिवार्य नियम को सभी अपनाते हैं।

आयर संस्कृति में नारी का सदा बराबरी का स्थान था। वे बड़े विश्वास एवं आर्थिक साथ सही, हवन, शारणार्थ एवं युद्ध में पुरुषों की भूमिका भाग लेती थीं। ‘वैत्यान’ उपन्यास की काशी में आज्ञाती और विश्वास ऐसी ही स्थितियाँ हैं जो स्वयं अर्थमात्र करती हैं। मदलस्वा अत्याचार के विरुद्ध काशी की जनता का साथ देती है। दृश्यद तो पुरुषों के साथ रणक्षेत्र में सेनानी का कार्य भी करती है। वाचक्षेत्री, गार्वी, गोधा और विश्वास स्त्री अधिकांग राजाओं द्वारा आयोजित शास्त्रार्थ में भाग लेती हैं।

वैदिक युगीन काशी, चैदिक्षीय यादव हीहय लुटेते से जोड़ती है। ये लोग आर्यवर्त में किसी राजा को प्रजा स्थान और स्वतंत्र बने रहना नहीं देख सकते। ये लोग जयन्न जूरकर्म हैं। इन्हीं लोगों द्वारा काशी के अधिकार—मुनियों का अपहरण भी होता है। ये असुर अधिकारों की हवन बैठी पर मूर्ति—विश्वास कर भ्रष्ट कर देते हैं। अधिक गाली की यज्ञशाला में ऐसी घटना घटित होने पर राजकुमार प्रतिद्वंद्व लगभग हो जाता है। उसे लज्जा इस बात पर आती है कि उसने आज्ञात नारी जनपद की सीमाओं की रक्षा के विषय में कोई पहल नहीं की। कभी प्रहरियों को सीमा क्षेत्र की जोंच पड़ताल के लिए भेजा ही नहीं।

‘वैत्यान’ उपन्यास में सामाजिक—सार्वजनिक चेतना, वैदिक युगीन काशी की परम्पराओं व मान्यताओं से व्यक्त रूप में प्रभावित है। उपन्यास तत्कालीन काशी के समाज एवं संस्कृति का जीवन्त वर्णन करता है। यही कारण है कि प्राचीन
काशी की समस्यायें आज की समस्यायें जान पड़ती हैं।

निष्पर्कः कहा जा सकता है कि शिवप्रसाद सिंह के उपन्यासों में सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना अपने गहरे यथार्थ बोध एवं इतिहास बोध के साथ उपस्थित है। इनके आरम्भिक उपन्यासों में जहाँ एक और ग्रामीण जीवन का यथार्थ लोक जीवन के विभिन्न रंगों के साथ उभरता है वहाँ बाद के उपन्यासों में इतिहास एवं वर्तमान का हद्द बराबर बना हुआ है। यहाँ इतिहास के आईने में राष्ट्र की विभिन्न समस्यायें वर्तमान की सार्थक झंकृति के साथ प्रतिविम्बित हुई हैं। उपन्यास की इस सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का सम्बंध कहीं न कहीं भारतीय समाज के मूल संकट से है। यह मूल संकट वस्तुतः भारतीय समाज में हाशिए की जिन्दगी जो ये लोगों का संकट है। शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास इस संकट की पहचान और उनसे मुक्ति के पथ को प्रशस्त करते हैं। उनके उपन्यासों में व्यक्त सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का यही सबसे बड़ा मूल्य है।